हिंदी साहित्य में समरसता

शशि प्रकाश पाठक
शोधार्थी, हिंदी विभाग
बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर केंद्रीय विश्वविद्यालय लखनऊ
ईमेल--shashiqwer177@gmail.com मो. नं-- 7905394161

काल के प्रवाह में विचलन स्वाभाविक है। आज हमें समता, समानता ,समरसता और अधिकारों की बात करनी पड़ रही है। सुधारों की बात करनी पड़ रही है, क्योंकि विचलन ने हमें उन मूल्यों से विरत कर दिया, जहां एक आदमी को ईश्वर बन जाने की स्वतंत्रता थी। आदमी का मनुष्य बनना और फिर देवत्व की तरफ बढ़ना साधारण नहीं है। उसके मूल्यनिष्ठ होते जाते की मुनादी है, घोषणा है। ऋषि कहते हैं-'मर्नु भवः' यानि मनुष्य बनो। यही बात बाद में गालिब के मुंह से निकलती है -

यूं तो मुश्किल है हर काम का आसां होना
आदमी को मयस्सर नहीं इंसा होना।

यानि जन्म से आप 'आदमी' हो सकते हैं किंतु 'मनुष्य' या 'इंसान' एक प्रक्रिया से गुजरने के बाद ही आप बनते हैं।वेदों में कहा गया है _'माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या' अर्थात् भूमि मेरी माता है और हम सभी उसके पुत्र हैं। आदिकाल से ही पृथ्वी को मातृभूमि की संज्ञा दी गई है। भारत के राष्ट्र जीवन का आधार सदा आध्यात्मिकता रहा है। सर्वजन में एक ही तत्व को देखने वाली यह संस्कृति बेजोड़ हैं। इस संस्कृति के समाज विकास में हरेक का अपना महत्व लक्षित है। इसी विश्वास के आधार पर यहां युगानुकुल समाज रचना का विकास हुआ। समता, ममता और समरसता हमारे भारतीय लोकजीवन का अभिन्न अंग है। हम जिस देश में रहते हैं उसके ऋषि कहते हैं- 'सर्वभूतहिते रताः।' प्रकृति से साथ हमारा संवाद बहुत पुराना है। इसलिए हमने अपनी समूची सृष्टि को स्वीकारा। किसी को विरोधी नहीं माना। पेड़,पहाड़, नदियां, समुद्र, वनस्पतियां, जलचर,नभचर, जीव-जंतु, मनुष्य सबमें ईश्वर का वास मानने वाले हम ही हैं। हम ही कह पाए जो जड़ में है वही चेतन में है। कण-कण में ईश्वर का वास मानने वाली संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। सामाजिक समरसता, समानता व सामासिकता, न्याय और बंधुत्व आदियुग से मानव की आकांक्षा रहे हैं । आज भी उनके लिए मनुष्य हिंसक- अहिंसक तरीकों से जूझता रहता है, बावजूद इसके आज भी वे समाज के लिए स्वप्न ही बने हुए हैं।विश्व-भर के साहित्य को ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि सभी महान साहित्यकारों के साहित्य में उनके अपने समय का समाज प्रतिबिम्बित होता है। साहित्य एक ऐसा महत्त्वपूर्ण साधन है जिसमें समाज विशेष की प्रगति तथा पतन की मनोस्थिति सभी कुछ देखी जा सकती है। जिन्सवर्ग के अनुसार -"समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्ही सम्बन्धों या तरीकों द्वारा संगठित है और जो कि उन्हें उन दूसरे लोगों से अलग करता है जो इन सम्बन्धों में शामिल नहीं होते अथवा जो उनसे व्यवहार में भिन्न हों।" हिंदी साहित्य की भी आधारभूमि तत्कालीन मानव समाज ही है। इनके गद्य व पद्य में मानव और समाज का चित्रण पूर्ण रूप से रचनात्मक और कलात्मक भाषा में हुआ है।

साहित्य में भी समानता और न्याय की अभिव्यंजना सनातन से ही रही है। हर युग में, हर भाषा के साहित्य ने इन्हें संवेदना के केंद्र में रखा है। हिंदी साहित्य के आरंभिक काल में ही हम इसकी गंभीर अभिव्यंजना को देख पाते हैं। हिंदी भाषा, साहित्य और संस्कृति की प्रकृति सामासिक रही है, क्योंकि यहां कई बोलियां, उपबोलियां और क्षेत्रीय विशेषताएं समरस हुई हैं। वैविध्य और समरसता ही इस सांस्कृतिक विकास प्रक्रिया का मूलकेंद्र हैं। हिंदी साहित्य का आदिकालीन साहित्य इसी सामासिक समरूपता के आरंभिक दौर का उत्कृष्ट उदाहरण हैं । डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ' हिंदी साहित्य और संवेदना के विकास' में कहते हैं -'वस्तुत: किसी साहित्य के आरंभ की पहचान वहां से की जा सकती है जहां वह धार्मिक कर्मकांड और रहस्य भावना से क्रमशः उन्मुक्त हो रहा हो।

इस दृष्टि से हिंदी में सिद्धो- नाथों से लेकर कबीरदास तक यह प्रक्रिया देखी जा सकती हैं। वैदिक साहित्य में एक ओर, और नाथ-सिद्धों की बानियों में दूसरी ओर, धर्म और साहित्य एक दूसरे में घुले-मिले दिखाई देते हैं। सिद्धों-नाथों के युग से निकल कर हिंदी संतों में साहित्य का प्रथम उन्मीलन उत्तर में दिखाई देता है, जिसका प्रतिरूप दकनी में पुरानी खड़ी बोली का सूफ़ी साहित्य है। संतो के यहां या तो रहस्यानुभूति के गूढ़ स्वर हैं,या फिर नए व्यवहारिक जगत में प्रवेश करने पर हिंदू- मुस्लिम और ऊंच-नीच के विद्वेष को मिटाने का यत्न है,जो विरोधों के शमन का बड़ा गहरा रचनात्मक उपक्रम है।'

जाहिर है कि यह असांप्रदायिक सामासिकता आदिकाल के मूल में है। राहुल सांकृत्यायन जी के अनुसार हिंदी परंपरा के पहले कवि सिद्ध सरहपा जी -भोग में निर्वाण और काया में तीर्थ देखते है। चंद और विद्यापति क्रमशः वीर और श्रृंगार तथा भक्ति और श्रृंगार को समरस करते हैं। नाथ परम्परा राजाओं को योगी बनाती चलती है चटपटनाथ की सबदी है 'तांबा-तुंबा ये दुई सूचा! राजा ही तैं जोगी ऊंचा।' यह सामासिकता जैन कवियों में कम दिखाई पड़ती है क्योंकि वे अधिकतर धार्मिक रहे हैं। इस संदर्भ में भारतीय साहित्य के भक्ति परम्परा के प्रमुख स्तंभों में से एक मैथिली के सर्वोपरि कवि विद्यापति का उल्लेख गंभीरतापूर्वक किया जा सकता है। इन्हें वैष्णव और शैव भक्ति के सेतु के रूप में भी स्वीकार किया गया है। मिथिला के लोगों को 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' का पाठ पढाके जन चेतना को उभारा है।

उधर दूसरी तरफ अमीर ख़ुसरो जी के रचनाकर्म से यह आभाष होता है कि हिंदी साहित्य का चरित्र आरम्भ से ही एकदम असांप्रदायिक रहा है। हिंदू मुस्लिम का जहां सीधा द्वंद चित्रित किया है वहां भी वह वीरों का युद्ध रूप में ही आता है। उनके कृतित्व में किसी एक पक्ष के प्रति घृणा भाव नहीं है। साहित्य और संगीत की जरूरतें भी खुसरो के यहां घुल-मिल सी गई हैं।

भारतीय जीवन में एक काल ऐसा आया जब भारतीय उपमहाद्वीप पर इस्लाम के कट्टर अनुयायियों का आक्रमण हुआ और भारत की सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था में उथल-पुथल हो गयी।काल-प्रवाह में हमारी एकात्म भावना, सामाजिक समरसता में आततायियों के प्रहारों की धुल जम गयी। तब भारतीय संत परम्परा ने पुनः इसे जीवतं करने का कार्य किया काल के प्रवाह में उत्पन्न मनुष्य–मनुष्य के मध्य भेदभाव को मिटा कर समरस सामाज स्थापना का प्रयास किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – "इस्लाम के प्रवेश ने धर्मगत एवं समाज व्यवस्था को पुरी तरह से झकझोर दिया था। उस समय भक्त कवियों की भक्ति ने दो रूपों में आत्म प्रकाश किया। एक सगुण साधना, दूसरी निर्गुण साधना। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार एवं शुष्कता

को आन्तरिक प्रेम में सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को दूर करने का प्रयत्न किया।"इसे काल खंड में अनेक प्रकार के सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तन के कारण समाज में विघटन और विभाजन ने जोर पकड़ा, इसी से जातियों औ उपजातियों की संख्या में वृद्धि हो गई। संत कवियों ने जन–जन में छुपे एकात्म भाव को जगाने का प्रयास किया,लोक साहित्य की रचना की। सन्त साहित्य का उद्देश्य "लोक" में फैले अविश्वास, अनास्था एवं कुरीतियों को दुर करना था। संतो ने मानवीय भावनाओं को उजागर करने का कार्य किया। भारतीय जीवन में निहित सद्भावना, समरसता को पुनः स्थापित करने का महती प्रयास किया।

संत नामदेव दर्जी जाति के थे। इन्होंने सभी प्राणियों के अंदर एक ही आत्मा का दर्शन किया और सामाज में जाति – पाँति से ऊपर उठ समरस सामाज निर्माण की प्रेरणा दी वे कहते हैं :

सर्वभूतों में हरि यही एक सत्य।
सर्व नारायण देखते हरि।।

अर्थात 'सभी जीवों में ईश्वर ही सत्य हैं। प्रभु सभी को देख रहे हैं। संत शिरोमणि कबीरदास ने जन्म से ऊँच–नीच माने जाने वाली परम्परा पर पुर-जोर प्रहार किया और इसका उपहास भी उड़ाया। सभी मनुष्यों के जन्म की विधी एक ही हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण के क्यों न हों। एक ही रक्त एवं शरीर के अंग सब एक ही समान हैं। एक ही बूँद से समस्त मानव सृष्टि की गई हैं, फिर ब्राह्मण और शुद्र का अंतर कैसा? कहते है-

एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बूँद से सृष्टि रची है, को ब्राह्मण को शूद्रा ।।

मानवतावाद के पक्षधर कबीर जी कहते हैं कि भगवान की दृष्टि में सब बराबर हैं न कोई छोटा हैं न कोई बड़ा हैं। उनकी दृष्टि में भगवान की भक्ति में जाति की आवश्यकता नहींहैं। भक्ति में मुल्लाओं और पंडितों की आवश्यकता नहीं हैं कहते है -

जो मोहि जाने तोहि मैं जानौं।
लोक वेद का कहा न मानौं।।

रैदास एक चर्मकार परिवार में जन्म पाकर अपनी आध्यात्मिक–साधना, चरित्रबल तथा विनयशील स्वभाव के कारण ईश्वरभक्ति का व्यापक साहित्य लिखा, किंतु अपने परिवारिक कार्य को लेकर कोई ग्लानि नहीं थी। वे लिखते हैं—

"जाति एक जाने एक ही चिन्हा,
देह अवमन कोई नही भिन्ना।
कर्म प्रधान ऋषि-मुनि गांवें,
यथा कर्मफल तैसाँहि पावें।
जीव कै जाती वरन कुल नांहि,
जाती भेद है जग मूरखाई।
नीति-समृति-शास्त्र सब गावें,
जाती भेद शउ मूढ़ बतावें।"

अर्थात् 'जीव की कोई जाति नहीं होती' वे ऋषि मुनियों की वाणी बताते हुए कहते हैं जब सबमें प्रभु है तो जाति भेद कैसा। सूरदास की भक्ति पद्धति में ऊँच – नीच का भेद नहीं हैं। उनका मानना है कि भगवान् के दरबार में जाति नहीं पूछी जाती :

'जाति–पाति कोई पूछत नाहीं श्री पति के दरबार।'

स्वयं श्री वल्लभाचार्य तथा भक्ति मार्ग के अन्य आचार्यों ने भी इनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं माना। भक्त सूरदास ने ईश्वरभक्ति में कोई भेद मानने से स्पष्ट मना कर दिया। 'सूरसागर के प्रथम स्कंध में वे कहते हैं:

'जाति पांति कुल-कानि न मानत, वेद पुराननि साखै।'

सामाजिक समरसता के पुरोधा गोस्वामी तुलसीदास ने अपने साहित्य में सामाजिक समरसता के लिए कई प्रयास किए: तुलसीदास ने रामचरितमानस के ज़रिए समाज में टूटन और जड़झरहट को दूर करने की कोशिश की,उन्होंने राम की कथा के ज़रिए राजनीतिक, सामाजिक, और पारिवारिक आदर्शों को स्थापित किया। तुलसीदास ने राम और शिव में परस्पर भक्तिभाव चित्रित करके वैष्णवों और शैवों में विरोध को खत्म करने की कोशिश की।तुलसीदास ने समाज में समरसता लाने के लिए समन्वयवात्मक दृष्टिकोण अपनाया। इन्होंने समाज में मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठित करते हुए समाज में दैहिक, दैविक, और भौतिक किसी भी प्रकार के कष्टों को खत्म करने की कल्पना की।

तुलसीदास ने वर्णाश्रम आधारित समाज को आदर्श समाज बताते हुए,भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप संयुक्त परिवार को अधिक महत्व दिया।तुलसीदास ने राम के चरित्र में शील, शक्ति, और सौंदर्य को विकसित करके लोकसंग्रह की साधना की।

इसी प्रकार गुरुनानक, जायसी एवं अन्य संत कवियों ने अपने मन – वचन–कर्म से भारतीय सामाज को समता ममता व एकत्व के सूत्र में बांधकर समरस समाज निर्माण की व्यापक चेष्टा करते दिखाई देते हैं।

साहित्य किसी भी समाज का आईना होता है। साहित्य के आलोक से समाज में चेतना का संचरण होता है। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शताब्दी को हिंदी साहित्य के सांस्कृतिक एवं समाज निर्माण की शताब्दी कहा जा सकता है। इस शताब्दी के साहित्यकारों ने स्वतंत्रता के साथ-साथ समाज सुधार को संघर्ष का विषय बनाया। मध्यकालीन भारतीय समाज की रूढ़िवादिता,संकीर्णता,अंधविश्वासी चेतना को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के आलोक में झकझोर कर जगाने का कार्य इस दौर के विद्वानों और साहित्यकारों ने किया।भारतेन्दु ने सामाजिक दोषों, रूढ़ियों, कुरीतियों का घोर विरोध किया है ।उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले ढोंग की पोल खोल दी है। छुआछूत के प्रचार के प्रति क्षोभ के स्वर उनकी रचनाओं में सहज ही दिखाई पड़ते हैं।भारतेन्दु ने 'भारत-दर्दशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता का इन शब्दों में विरोध करते हुए कहते हैं "बहुत हमने फैलाए धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म।"तो वहीं प्रतापनारायण मिश्र जी की दृष्टि 'मन की लहर' में बाल-विधवाओं की करुण दशा की ओर गई है 'कौन करेजो नहि कसकत सुनि विपति बालविधवन की।' मिश्र जी स्त्रियों की शिक्षा के पक्षपाती हैं, बाल-विवाह के विरोधी तथा विधवाओं के दुख से दु:खी है।

साहित्य समाज की उन्नति और विकास की आधारशिला रखता है। कभी कभी साहित्यकार या लेखक शोषित वर्ग से इतना करीब होता है कि उसके कष्टों को वह स्वयं भी अनुभव करने लगता है। मुंशी प्रेमचंद के एक कथन को यहां उद्धृत करना उचित रहेगा..."जो दलित है, पीड़ित है, संत्रस्त है,उसकी साहित्य के माध्यम से हिमायत करना साहित्यकार का नैतिक दायित्व है।" प्रेमचंद का किसान - मजदूर चित्रण उस पीड़ा और संवेदना का प्रतिनिधित्व करता है जिनसे होकर आज भी अविकसित एवं शोषित वर्ग गुजर रहा है।

साहित्य की महती भूमिका होती है कि वह कितनी सूक्ष्मता और मानवीय संवेदना के साथ मानवीय अवयवों को उद्घाटित करता है। साहित्य, समाज की उन्नति के साथ भविष्य का पथ-प्रदर्शक है। हिंदी साहित्य समाज की उन्नति में अमीर ख़ुसरो से लेकर तुलसी, कबीर, जायसी, रहीम, प्रेमचंद, भारतेंदु,निराला नागार्जुन तक की श्रृंखला के रचनाकारों ने समाज के नवनिर्माण में अभूतपूर्ण योगदान दिया है। व्यक्तिगत हानियां उठाकर भी इन्होंने शासकीय मान्यताओं के खिलाफ़ जाकर समाज निर्माण हेतु कदम उठाएं। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिंदी साहित्य के रचनाकारों ने अपने समय से आगे की रचना की। यह उनकी दूरदृष्टि ही कही जा सकती है कि उन्होंने भविष्य की

परिस्थितियों को पहले भांप लिया था और उस समय ही हिंदू-मुस्लिम,जातिगत एकता व बंधुत्व पर अपनी रचना की। अपने रचनाकर्म के माध्यम से जनसामान्य को जागरूक करने का प्रयास करते हुए समता,ममता व समरसता की बात करते हैं। सामाजिक असंतुलन के आज के विभ्रमकारी दौर में हमें इन साहित्यकारों के रचनाओ को फिर से पढ़ने की जरूरत है क्योंकि इसमें सामाजिक समरसता, समानता ,न्याय और सामासिकता की एक अदभुत छटा निखर कर आती है जो हिंदी साहित्य की सच्ची प्रस्तावना है।

****

संदर्भ ग्रंथ:-

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, *हिंदी साहित्य का आदिकाल*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ,पटना,1952
2. बलदेव उपाध्याय, *वैदिक साहित्य एवं संस्कृति*, शारदा संस्थान, वाराणसी,1969
3. कृष्ण चंद्र,*भारतीय संस्कृति*,सुरभारती प्रकाशन, दिल्ली,1992
4. गोपाल कृष्ण, *भारत की संत परंपरा और सामाजिक समर*सता, मध्य प्रदेश ग्रन्थ अकादमी,2015
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, *हिंदी साहित्य का इतिहास*, लोकभारती प्रकाशन,2013
6. डॉ रामधारी सिंह दिनकर,*संस्कृत के चार अध्याय*, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली,1946
7. शिव कुमार मिश्र,*भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य,* लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली
8. शंभूनाथ (सं.), *जातिवाद और रंगभेद*, वाणी प्रकाशन,1990
9. रामस्वरूप चतुर्वेदी, *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

'श्रृंखला की कड़ियां'निबंध में नारी चेतना

अंजली कुमारी
शोध छात्रा हिंदी विभाग
केंद्रीय विश्वविद्यालय हिमाचल प्रदेश मो.7018930339

शोध सारांश- भारतीय समाज में स्त्री को सामान्य मानव के बजाय त्याग एवं बलिदान की मूर्ति और देवतुल्य व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जाता रहा है। स्त्री से एक पुत्री, बहन,पत्नी या किसी अन्य रूप में सदैव अपेक्षा की जाती है कि वह अपने अधिकारों और इच्छाओं की बलि देकर समझौता करे।'श्रृंखला की कड़ियां' निबंध में महादेवी वर्मा ने स्त्रियों के होते आ रहे अन्याय शोषण और विभिन्न परिस्थितियों को आधार बनाकर नारी चेतना संबंधी अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। उनके निबंध में विद्रोह पूर्ण स्वर में समाज में व्याप्त रूढ़िवादी मानसिकता का विरोध किया है जो समाज के ठेकेदारों के असंवेदनशील शोषण वृत्ति का परिणाम है।पुरुष प्रधान समाज में नारी से संबंधित सामाजिक विषमता, शिक्षा की कमी के कारण नारियों में अपने अधिकारों के प्रति अज्ञानता,लोकलाज , स्त्रीत्व के नाम पर नारी का मानसिक और शारीरिक शोषण ,आरक्षण के नाम छलावा, लेडीज़ फर्स्ट आदि ऐसे विषय है जिन पर लेखिका का ध्यान आज से नौ दशक पूर्व केंद्रित हुआ। इसलिए लेखिका ने अपने साहित्य के माध्यम से नारी चेतना का जो आह्वान किया वह आज भी समस्त नारी जाति के लिए अनुकरणीय है।

बीच शब्द - लोकलाज ,अज्ञानता, उत्तराधिकार, अस्तित्व, मानसिकता, भारत, नवजागरण।

प्रस्तावना - हिंदी साहित्य की छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा द्वारा सन 1931ईस्वी में प्रकाशित "श्रृंखला की कड़ियां" निबंध संग्रह में भारतीय समाज में स्त्री विमर्श ,समाज का नारी के प्रति दृष्टिकोण, नारी चेतना और विमर्श और मानवीय संबंधों के विश्लेषण को प्रस्तुत किया है जो उनके गहन आत्मिक अनुभूति का परिचायक है। इतिहास साक्षी है कि सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक ,आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों से नारी जीवन में कई तरह के उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। परिस्थितिया बदलने के साथ शासन व्यवस्था ने नारी की जीवन शैली में भी बदलाव लाने का प्रयास किया है जिसके परिणामस्वरूप आज नारी का अस्तित्व भी बदला है। 21वीं शताब्दी में नारी विमर्श साहित्यकारों की लेखनी और चर्चा के केंद्र में है। परंतु अधिकतर साहित्यकारों ने बिना किसी आंदोलन के नारी उत्पीड़न और चेतना को अपनी लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।महादेवी वर्मा ने जीवंत नारियों के संघर्ष ,सुख दुख,आशा निराशा आदि मनोभावों का साक्षात्कार उन्हें अपने अंतःकरण से किया है। उनका कहना था" संसार परिवर्तनशील है ,यहां बड़े-बड़े साम्राज्य बह गए, संस्कृतियां लुप्त हो गई ,जातियां मिट गई,रीति रिवाज़ बदल गए, रूढ़ियां टूट गई ।सब कुछ बदल गया पर स्त्रियों की दशा नहीं बदली है।"[1] लेखिका के जीवन काल में जिन स्त्रियों के साथ संपर्क हुआ उनकी दारुण व्यथा का प्रत्यक्ष अनुभव किया और पुरुष प्रधान समाज में स्त्री विरोधी मानसिकता ने उन्हें व्यथित किया। भारतीय नारी जीवन भर विषम परिस्थितियों का सामना करती हुई स्वयं को समर्पण करने पर भी समाज में उपेक्षित रही। महादेवी वर्मा लिखती है कि "मैं भारतीय नारी की विषम परिस्थितियों को अनेक दृष्टि बिंदुओं से देखने का प्रयास किया है। अन्याय के प्रति मैं स्वभाव से असहिष्णु हूँ अतः इन निबंधों